



स्त्री- विमर्श

समानांतर सिनेमा : स्त्री दृष्टि'

शालिनी सिंह
शोध छात्रा
(हिन्दी विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सिनेमा के प्रारम्भिक चरणों में सिनेमा में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं था, बस फिल्में बनती थी, मनोरंजन से लेकर सामाजिक मुद्दों पर आधारित विभिन्न विषयों संबंधी फिल्में बनती थी और लोगों की सोच को भी प्रभावित करती थी। परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् देश की परिवर्तित होती सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने सिनेमा की सोच को न केवल प्रभावित किया अपितु परिवर्तित भी किया। "1950 के दशक में प्रधान विमर्श ने आर्थिक विकास आत्मनिर्भरता, सामाजिक समानता और राष्ट्र निर्माण जैसे उदीयमान विमर्शों को संग्रहित किया। इसी बीच आम लोगों का आज़ादी के आदर्शों के साथ मोहभंग शुरू होने लगा। 1960 के दशक में केरल और बंगाल में वामपंथी सरकारों की स्थापना के साथ भारतीय राजनीति में कांग्रेस एक दलीय वर्चस्व समाप्त हो गया।"¹

1943ई. में भारतीय जन नाट्य संघ (इप्ता) का गठन हो चुका था। तत्कालीन रंगमंच पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ा था जो निश्चित रूप से पारसी रंगमंच के प्रभावों से भिन्न था। आगे चलकर इप्ता ने समानान्तर फिल्मों के लिए वह आधार प्रदान किया जिस पर इन फिल्मों ने अपना

मजबूत प्रासाद खड़ा किया। इप्ता के सहयोग से बनी 'धरती के लाल', 'डॉ० कोटनीस की अमर कहानी', 'नीचा नगर' आदि कुछ चुनिंदा फिल्में हैं जिनका यथार्थवादी सिनेमा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कला सिनेमा आंदोलन का मुख्य उद्देश्य समाज के शोषित, पीड़ित और वंचित वर्गों के अधिकारों के लिए आवाज उठाना था। सत्तर के दशक में समानान्तर सिनेमा ने इस उत्तरदायित्व का बखूबी निर्वहन किया। इन फिल्मों ने समाज के दबे-कुचले व्यक्तियों को समाज के मुख्य धारा में लाने का सराहनीय प्रयास तो किया ही परन्तु सर्वाधिक और महत्त्वपूर्ण प्रयास इन फिल्मों ने किया था— स्त्री विषयक मुद्दों को उठाकर। सदियों से घर की चहारदीवारी में सिसकती-सुबकती स्त्रियों को इन फिल्मों ने जैसे स्वर प्रदान कर दिया हो, जैसे कि इन फिल्मों के माध्यम से स्त्रियाँ पूरे समाज से, उन पर अब तक के हुए शोषण का हिसाब लेना चाहती थी और चीख-चीखकर इस पुरुष प्रधान समाज को चुनौती दे रही हो कि अब वे उनके शारीरिक, मानसिक शोषण का शिकार नहीं होंगी और उनकी इस लड़ाई में उनका साथ श्याम बेनेगल, गुलजार,



भट्टाचार्य जैसे फिल्मकारों ने दिया।

इन फिल्मकारों ने स्त्री जीवन से जुड़े विविध विषयों पर सार्थक फिल्में बनाकर स्त्रियों को एक नवीन अभिव्यक्ति दी जिससे इनकी आवाज न केवल राष्ट्रीय अपितु अंतरराष्ट्रीय मंचों तक पहुँची।

हिंदी में समानांतर सिनेमा का प्रारंभ सन् 1969 ई0 में मृणाल सेन की फिल्म 'भुवनशोम' से होती है। 'भुवनशोम' एक ऐसे रेलवे कर्मचारी की कहानी है जो रिश्वत लेता है और अपनी पत्नी के कारण अनुशासनात्मक कार्रवाई से बच जाता है। इसके बावजूद उसकी रिश्वत लेने की प्रवृत्ति नहीं जाती। "इस आंदोलन से जुड़े हुए फिल्मकार सिनेमा की भाषा और तकनीक से अकादमिक और अनौपचारिक धरातल पर गंभीरता से जुड़े हुए लोग रहे हैं जिन्होंने सितारा-प्रणाली तथा सिनेमा के व्यवसायी ढाँचे के विरुद्ध कम बजट, अप्रशिक्षित कलाकारों या रंगकर्मियों और विषय-वस्तु तथा निर्वहण के धरातल पर चालू मुहावरों से अलग सिनेमा के निजी कलात्मक मुहावरों को अपनाया। इस आंदोलन को विकसित करने में फिल्मकारों, रंगकर्मियों, लेखकों, पत्रकारों और विश्व सिनेमा की हलचलों के साथ भारत में सरकारी सहयोग और फिल्म फेस्टिवलों की भूमिका रही है।"²

हालाँकि यह एक विरोधाभासी तथ्य है कि सरकारी सहयोग से विकसित हुए समानान्तर फिल्म आंदोलन ने व्यवस्था के विरुद्ध ही विद्रोह किया। अपने विरोधी स्वभाव की प्रवृत्ति के कारण ही समाज

प्राचीर में संध लगाई। स्त्री-विषयक मुद्दों पर फिल्में बनाने वाले निर्देशकों में सबसे पहले श्याम बेनेगल का नाम लिया जा सकता है। इनकी अधिकांश फिल्में नारी-प्रधान हैं जिसमें 'निशांत' (1975), 'भूमिका' (1976), 'मंडी' (1983), 'मम्मो' (1994), 'हरी-भरी' और 'जुबैदा' प्रमुख हैं।

निशांत चार जमींदार भाईयों के जीवन पर बनी फिल्म है। इसमें मुख्य भूमिका में गिरीश कर्नाड और शबाना आजमी हैं। "दरअसल यह फिल्म अच्छाई और बुराई के संघर्ष में जमींदार की हत्या के बावजूद अवाम की जीत का अहसास नहीं करा पाती। गिरीश कर्नाड अपनी पत्नी की मर्यादा बचाने में ही असफल नहीं होते अपितु उनका नजरिया भी विद्रोही नहीं होता।"³ इस फिल्म में औरत का घर छोड़कर चले जाना, अधिकतर दर्शकों को पसन्द नहीं आया।

'भूमिका' स्त्री दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फिल्म कही जा सकती है। यह फिल्म मराठी लोकनाट्य एवं फिल्म अभिनेत्री 'हंसा वाडेकर' की आत्मकथा पर आधारित है। फिल्म में हंसा वाडेकर की भूमिका अपने समय की सशक्त अभिनेत्री स्मिता पाटिल ने निभाई है। "भूमिका उत्पीड़न, संताप, यातना और नारी की यंत्रणा तथा उसकी छटपटाहट की भूल-भुलैया है। इसकी बुनावट अत्यंत जटिल है। एक मातृसत्तात्मक ढाँचा है जो सहयोगी और विरोधी के साथ दमनात्मक है। इसमें नारी कलाकार, कार्य-पैसा, अर्थ यौन का गठबंधन प्रस्तुत किया गया है।"⁴ फिल्म का शीर्षक

द्वारा स्त्री को दी गयी '

भूमिका' और एक स्त्री की स्वयं से अपेक्षित 'भूमिका' के द्वन्द्व में अपना अस्तित्व ढूँढती स्त्री की मनोदशा को व्यक्त करती है।

वेश्याओं के जीवन पर बनी 'मंडी' के विषय पर श्याम बेनेगल कहते हैं, "मैं पूर्ण और सूक्ष्म भारतीय जीवन पद्धति पर फिल्म बनाने का उत्सुक था। मंडी भारतीय मध्यवर्ग की आडंबरपूर्ण चर्या और उसकी विसंगतियों को दिखाती है। मध्यवर्ग जो स्वयं को समाज का ठेकेदार मानता है उसका फरेब, उसकी चालाकी को बड़ी दिल्लगी और परिहास के साथ दिखाती है। साथ ही इसमें जिजीविषा की सहज वृत्ति जो शबाना के चरित्र में लक्षित होती है, को भी उभारा गया है।"⁵

देश के विभाजन के फलस्वरूप औरतों, बच्चों और वृद्धों पर पड़े असहनीय और कभी न भूलने वाली पीड़ा को व्यक्त करती फिल्म 'मम्मो' है जिसे सन् 1995 का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला था। "देश का बँटवारा करने वाले एक अबला के दुःख को समझ पाते तो जाने कितनी औरतों को मम्मो की मार्मिक स्थिति से नहीं गुजरना पड़ता। बकबक करती रहने वाली मम्मो का दर्द उसकी बहन फैय्याजी के मौन से और मुखर हो उठता है। अपने नवासे के छिनने के भय से बहनों के दिल की दबी-ढँकी भावनाएँ उभर आती हैं। बच्चों के संग बच्चा बन जाने वाली मम्मो सरकारी दफ्तरों में धक्के खाती है, अंत में अपनी भोली अकलमंदी का

उपयोग कर वह दो-दो देशों की लाली करती सी ही को धता बता देती है।"⁶

देश को स्वतंत्र हुए इतना समय व्यतीत हो जाने पर भी हमारे यहाँ की औरतों को गर्भधारण और प्रजनन संबंधी विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। महिलाओं की इसी समस्या पर सबका ध्यानाकर्षण करती फिल्म है— 'हरी-भरी'। अस्सी और नब्बे का दशक समानान्तर सिनेमा और उसमें स्त्री प्रधान फिल्मों की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण रहा। अस्सी के दशक में मुजफ्फर अली की 'गमन' (1978), विनोद पांडे की 'एक बार फिर' (1979) स्त्री-विषयक दृष्टिकोण से अति महत्वपूर्ण फिल्में कही जा सकती हैं। नब्बे के दशक में महेश भट्ट की 'अर्थ' (1982), सागर सरहदी की 'बाजार' (1982), जब्बार पटेल की 'सुबह' (1982), कुमार साहनी की 'तरंग' (1984), केतन मेहता की 'मिर्च-मसाला' (1985), अपर्णा सेन की 'परमा' (1985), कल्पना लाजमी की 'एक पल' (1986), गुलजार की 'इजाजत' (1987), और अमोल पालेकर की 'थोड़ा-सा रुमानी हो जाये' (1990), जैसी फिल्में स्त्री-अस्मिता के साथ-साथ स्त्री अधिकारों और उसकी विविध समस्याओं पर बनी महत्वपूर्ण फिल्में हैं।

सदी के आखिरी दशक में गुलजार की 'लिबास' (1991), कल्पना लाजमी की 'रुदाली' (1992), बासु भट्टाचार्य की 'आस्था' (1996) और गोविंद निहलानी की 'हजार चौरासी की माँ' (1998) जैसी फिल्में स्त्री से जुड़े तमाम समस्याओं की ओर समाज का ध्यान खींचती हैं। भारतीय समाज में विवाह की 'शाश्वतता' के विषय में विभिन्न प्रकार



जैसी भी धारणाएं प्रचलित हैं जबकि

वास्तविकता यह भी है कि इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की लगाम अपने हाथों में बनाए रखने के लिए समाज द्वारा तरह-तरह के नियम कानून स्त्री पर लाद दिए जाते हैं जिनके बोझ तले स्त्री की इच्छाएँ दम तोड़ देती हैं और यदि कोई स्त्री इन बने-बनाए 'सामाजिक ढाँचों' को तोड़ना चाहती है तो समाज द्वारा उसे 'कुलटा' जैसी उपाधि से विभूषित कर दिया जाता है लेकिन यदि वही काम कोई पुरुष के द्वारा किया जाता है तो इस बहुरूपिए सामाजिक ढाँचे की दीवार भी नहीं दरकती। 'लिबास' फिल्म एक ही समाज में रहने वाले स्त्री और पुरुषों के लिए बनाए गए पृथक-पृथक मान्यताओं के 'लिबास' को उतार फेंकती है।

सन् 1994 में शेखर कपूर ने 'बैंडिट क्वीन' नामक फिल्म बनाई जो कि दस्यु सुंदरी फूलन देवी के जीवन पर आधारित थी। यह फिल्म तत्कालीन समय की काफी विवादित फिल्म थी। यह फिल्म, एक दलित स्त्री की सामंती समाज द्वारा बार-बार शोषण और फूलन देवी द्वारा अपने इस शोषण का सामंती समाज से प्रतिशोध लेने की कहानी है। एक स्त्री होना ही, हमारे समाज में एक अभिशाप है और ऐसे में यदि स्त्री दलित है तो उसकी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। हमारे जातिवादी समाज में यदि कोई भी स्त्री चाहे वह जिस भी जाति की हो, यदि वह परम्परागत ढाँचे को तोड़ने का प्रयास करती है तो, या तो उसे फूलन जैसी

शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना का शिकार होना

पड़ता है या फिर फूलन देवी जैसी डकैत बनकर, नरसंहार करना पड़ता है। साधारण मनुष्य की तरह जीवन जीने का अधिकार यह समाज, औरत को नहीं दे सकता।

21वीं सदी में भी स्त्री-विषयक मुद्दों पर फिल्में बनना जारी रहा। इसी कड़ी में दीपा मेहता की 'वाटर' (2005), नागेश कुकुनूर की 'डोर' (2006), लीना यादव की 'पाचर्ड' (2015) का नाम उल्लेखनीय है। 'पाचर्ड' फिल्म की लेखिका और निर्देशक दोनों लीना यादव हैं। इसके पहले वे 'शब्द' और 'तीन पत्ती' बना चुकी हैं। 'पाचर्ड' में उन्होंने तीन किरदारों रानी (तनिष्ठा मुखर्जी), लाजो (राधिका आप्टे) और बिजली (सुरवीन चावला) के जरिये बाल-विवाह वेश्यावृत्ति, विधवा, घरेलू हिंसा, वैवाहिक बलात्कार जैसी तमाम बातों को फिल्म के माध्यम से उठाया है। फिल्म दर्शाती है कि पुरुष अपनी दैहिक आवश्यकताओं को 'मर्दानगी' का नाम देकर, स्त्री की दैहिक आवश्यकताओं की अनदेखी कर उससे जबरदस्ती करता है। फिल्म में दिखाया गया है कि आज भी महिलाओं की स्थिति जस की तस है, उसकी इच्छा- अनिच्छा का कुछ महत्त्व ही नहीं है।

परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत नियम है, समय-समय पर समाज, साहित्य और सिनेमा सभी में परिवर्तन वांछनीय हैं, समानांतर फिल्मों के रूप में सिनेमा में जो परिवर्तन हुआ उसे जहाँ समाज के एक वर्ग ने सराहा, स्वीकारा तो दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग भी है जो इन स्त्री-विषयक समस्याओं पर बनी फिल्मों को बैन करने का पक्षधर है। यह वर्ग

आज भी स्त्री को चर्चरदीवारी में ही कैद रखना चाहता है तो वही समाज के प्रगतिशील लोग स्त्रियों से जुड़े तमाम विषयों पर खुलकर बातचीत करते हैं और उनकी समस्याओं को गंभीरता से लेते हैं। 'क्वीन', 'पिंक', 'मैरीकॉम', 'दंगल', जैसी फिल्मों की सफलता यह बात साबित करती है कि हमारे समाज का

दृष्टिकोण स्त्री के प्रति परिवर्तित हुआ है जिसके परिणाम स्वरूप कल्पना चावला ने आसमान की बुलंदियों को छुआ, इंदिरा गाँधी, मायावती जैसी महिलाएँ राजनीति के उच्चतम शिखर तक जा पहुँची तो साइना नेहवाल, पी.वी. सिंधू जैसी बेटियों

ने भारत को गर्वित होने का अवसर दिया। इन परिवर्तनों का असर सिनेमा पर भी पड़ रहा है। हाल के वर्षों में बनी हिंदी फिल्मों में स्त्री चरित्रों की सशक्तता को देखकर यह विश्वास पैदा होता है कि वह सार्थकता की तलाश में अग्रसर है। सिनेमा में 'कम्यूनिकेट' की क्षमता है, अतः अच्छा है कि यह कम्यूनिकेशन सार्थक हो, बस आवश्यकता है श्याम बेनेगल, गोविंद निहलानी, दीपा मेहता जैसे फिल्मकारों की जो इस सार्थकता को परदे पर सही से परिभाषित कर सकें और स्त्री-अस्मिता, उसकी स्वतंत्रता को नया स्वर दे सकें जिससे समाज में आधी आबादी भी अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा सके और पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर सामाजिक उन्नयन में सहभागिता करें।

संदर्भ ग्रन्थ—

1. ललित जोशी, हाउसफूल, पृ0 58
2. डॉ. अनुपम ओझा, भारतीय सिने-सिद्धांत, पृ0 90
3. कमला प्रसाद, वसुधा (हिन्दी सिनेमा विशेषांक), पृ0 390
4. मृत्युंजय, सिनेमा के सौ बरस, पृ0 229
5. वही, पृ0 230
6. वही, पृ0 232